International Journal of Arts & Education Research

वैदिक युगीन शिक्षा की प्रमुख प्रवृत्तियाँ

SHAILENDRA PRATAP SINGH
CLM Inter College
Jani Khurd Meerut
M.A.(Sociology, Pol.Science, Education)

वेद शब्द का अर्थ ज्ञान होता है। वैदिक कालीन शिक्षासे तात्पर्य उस ज्ञान से है जो वेदो में सुरक्षित है तथा जो उस काल में प्रयोग किया जाता था। भारत की आधारभूत संस्कृति का ज्ञान इन्हीं प्राचीन धर्म–ग्रन्थों में सुरक्षित है। वैदिक कालीन शिक्षा न तो पुस्तकीय ज्ञान में विश्वास रखती थी और न ही जीवकोपार्जन का साधन थी,यह तो पूर्ण रूप से नैतिक एवं आध्यात्मिक ज्ञान का सोपान थी। उस समय की शिक्षा का अर्थ था कि व्यक्ति को इस प्रकार से आत्म प्रकाशित किया जाय कि उसका सर्वांगीण विकास हो सके। श्रवण मनन तथा निदिध्यासन आदि शिक्षाप्राप्त करने के साधन थे। वेद जो लिखित रूप से संकलित नहीं किये गये केवल कण्ठस्थ ही कराये जाते थे, श्रुति कहलाये। इस प्रकार वैदिक साहित्य मे शिक्षा शब्द का प्रयोग विद्या ज्ञान तथा विनय आदि अर्थों में किया जाता था। प्राचीन भारतीय मनीषियों द्वारा शिक्षा शब्द का प्रयोग व्यापक तथा सीमित दोनों अर्थों म किया गया है। डा. ए. एस. अल्तेकर के अनुसार व्यापक अर्थ में शिक्षाका तात्पर्य व्यक्ति को सभ्य व उन्नत बनाना है। इस दृष्टि से शिक्षा आजीवन चलने वाली प्रक्रिया है। सीमित अर्थ में शिक्षा का अभिप्राय उस औपचारिक शिक्षा से है जो व्यक्ति को गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करने स पूर्व छात्र रूप में गुरु से प्राप्त होती है। इस प्रकार वैदिक कालीन शिक्षासे तात्पर्य व्यक्ति का शारीरिक,मानसिक बौद्धिक तथा आध्यात्मिक विकास है।

शिक्षा व्यक्ति के सर्वाप्रोण विकास के लिए अनिवार्य है। ज्ञान तथा क्षमताएँ प्रदान करने के साथ–साथ शिक्षा समाज के नैतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक तत्त्वों को भी सम्पुष्ट करती है। भारतीय मनीषियों ने सुदूर अतीत में ही शिक्षा के महत्त्व को समझ लिया था, इसी कारण वैदिक ऋषियों ने शिक्षा की समुचित एवं सुनियोजित व्यवस्था की थी। प्रभावी अर्थों में यह शिक्षा मूल्यपरक हुआ करती थी। वैदिक चिन्तन के परिप्रेक्ष्य में मूल्यबोध का तात्पर्य है– उच्चतम आदर्श तक पहुँचने का सतत् प्रयास वैदिक ऋषि जीवन के प्रति दृढ़ आस्थावान् थे और उन्होंने मानव को शान्तिमय एवं आनन्दमय जीवन व्यतीत करने के लिए प्रेरित किया है। उनके लिए विश्व आनन्द से बना है और आनन्द से व्याप्त है। आनन्द की खोज में मन्त्रद्रष्टा ऋषि निरन्तर लौकिक एवं आध्यात्मिक उन्नति की ओर अग्रसर रहे हैं तथापि उन्होंने लौकिक समृद्धि की अपेक्षा बौद्धिक एवं आध्यात्मिक उत्कर्ष के जीवन का परम लक्ष्य स्वीकार किया। वैदिक चिन्तन में मूल्य विषयक अवधारणा लौकिकता की अपेक्षा आध्यात्मिकता से ओतप्रोत रही है। इसी के क्रम में वैदिक शिक्षा की गुरुकुल प्रणाली ने विशाल संस्कृत साहित्य को सुरक्षित रखने के साथ ही ज्ञान, विज्ञान एवं दर्शन के विभिन्न क्षेत्रों में मौलिक विचारों को जन्म दिया। वैदिक शिक्षा का सम्बन्ध केवल पुस्तकीय ज्ञान से नहीं था, अपितु मन्त्रद्रष्टा ऋषियों का दृढ़विचार था कि शिक्षा मनुष्य के नैसर्गिक जीवन को पूर्णता प्रदान करती है।

शिक्षा वह प्रकाश अथवा शक्ति है जो पाशविक प्रवृत्तियों का उन्मूलन करके जीवन के वास्तविक महत्त्व को प्रकट करती है। शिक्षा प्रकाश का वह स्रोत है जो जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में हमारा सच्चा पथ प्रदर्शन करती है। वैदिक युग से आज तक शिक्षा का मूल अर्थ भारत में यहीं रहा है।[1] वैदिक शिक्षा पद्धति अपनी कतिपय विशेषताओं के कारण अन्य शिक्षा पद्धति से विलक्षण तथा अपेक्षाकृत् अधिक औचित्यपूर्ण है। ये विशिष्टताएँ अग्रलिखित है

(1)गुरुकुल पद्धति :–

प्राचीन भारतीय वैदिक शिक्षा की मुख्य विशेषता **''गुरुकुल प्रणाली''** थी। छात्र गुरु के कुल अर्थात् परिवार के साथ किसी आश्रम में रहकर ज्ञानार्जन करते थे। शिक्षा पारिवारिक कलह एवं सामाजिक तनाव से दूर तपोवन के शान्त वातावरण में दी जाती थी। गुरुकुल प्रायः नैसर्गिक सौन्दर्य से सुरभित, जनपद कोलाहल से दूर, प्रकृति के रम्य कक्ष में स्थित होते थे। अधिकां"। उपनिषदों में गुरुकुल के स्थान पर **'आचार्य–कुल'** शब्द प्रयुक्त है। एक परम्परा के बोधक के रुप में **'कुल'** शब्द अत्यन्त सार्थक एवं सारगर्भित था। वैदिक युग में दो प्रकार के गुरुकुल

के अस्तित्व का साक्ष्य प्राप्त होता है– एक गृहस्थ गुरु–आश्रम और दूसरा वानप्रस्थ प्रव्रजित गुरु–आश्रम। वैदिक युग में संघ, परिषद्, चरण, मठ, गुरुकुल तथा आश्रम स्थापित हो गये थे, जहाँ गुरु वैयक्तिक रूप से स्वयमेव शिष्यों को शिक्षा प्रदान करते थे। शिष्य गुरु में पिता एवं आचार्य–पत्नी में माता की भावना करते हुए पारिवारिक वातावरण का अनुभव करता था।

वैदिक युग में आचार्य–कुल में रहकर प्राप्त की गयी विद्या श्रेष्ठ मानी जाती थी। छान्दोग्योपनिषद् में उल्लेख है कि सत्यकाम जब आचार्य–कुल पहुँचा तब आचार्य ने कहा 'तुम ब्रह्मवेत्ता के समान दिखाई दे रहे हो, तुम्हें किसने शिक्षा दी'? तब सत्यकाम ने उत्तर दिया कि 'मुझे देवताओं ने उपदेश दिया है किन्तु मैनें ऋषियों से सुना है कि आचार्य से सुनी विद्या ही श्रेष्ठ है, अतः आप मुझे उपदेश दें।'[2]

गुरु के आश्रम को **'गुरुकुल'** कहा जाता था। जीवन क प्रथम चरण में की गयी विद्या की साधना ही ब्रह्मचर्याश्रम कहा जाता था। विद्याध्ययन का यही निर्जन स्थान **'ब्रह्मचर्य आश्रम'** था। विद्यार्थी को ज्ञान प्राप्त करने के लिए गृह त्याग कर गुरु के सतत् सानिध्य में रहना पड़ता था, जिससे विद्यार्थी के चरित्र एवं व्यक्तित्त्व का पूर्ण विकास होता था। इसी कारण छात्र को **''अन्तेवासी'', ''आचार्य कुलवासी''** तथा **''ब्रह्मचारी''**[3] शब्द से सम्बोधित किया जाता था। छान्दोग्योपनिषद् में ब्रह्मचारी को धर्म का **'तीसरा स्कन्ध'** कहा गया है, जो आचार्य के गृह में निवास करते हुए गुरुसेवा आदि के द्वारा शरीर को क्षीण करता है। ब्रह्मचारी धर्म के प्रथम स्कन्ध– यज्ञ, अध्ययन, दान एवं द्वितीय स्कन्ध– तप के साथ पुण्यलोक को प्राप्त करके ब्रह्म में स्थित अमृत भाव को प्राप्त कर लेता है।[4] अनेक छात्र विद्या और अध्यात्म की साधना में अपना सम्पूर्ण जीवन समर्पित कर देते थे। इनको नैष्ठिक ब्रह्मचारी की संज्ञा दी गयी थी।[5] नैष्ठिक ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्याश्रम के बाद सन्यास ग्रहण करते थे और गृहस्थाश्रम में प्रवेश नहीं करते थे। इस प्रकार **'नैष्ठिक'** का अभिप्राय ब्रह्मज्ञान के निमित्त आजीवन ब्रह्मचर्य व्रतधारण करने वाले ब्रह्मतत्त्वज्ञ से था।

वैदिक युग में शिक्षार्जन हेतु गृहत्याग करके गुरुकुल में निवास करना अनिवार्य था। जैसा कि– छान्दोग्य उपनिषद् में वर्णन है कि पिता उद्दालक ने पुत्र श्वेतकेतु से कहा– 'श्वेतकेतु! ब्रह्मचर्य आश्रम में प्रवेश कर। हमारे कुल में उत्पन्न होने वाला कोई अध्ययन से रहित ब्रह्म बन्धु जैसा नहीं है।'[6] तब श्वेतकेतु ज्ञानी उद्दालक का पुत्र होने पर भो वेदाध्ययन के लिए बारह वर्षों तक गुरुकुल में निवास करता रहा। कालान्तर में गुरुकुलों से अनेक शिक्षण संस्थाएँ विकसित हुई। पाणिनि के अष्टाध्यायी में शिक्षा–संस्थाओं के चार वर्गों– कुल, गोत्र, चरण और परिषद् की सूचना मिलती है। वैदिक गुरुकुल पद्धति में विद्यार्जन के लिए साधना, तप, स्वाध्याय, एकाग्रता एवं ब्रह्मचर्य व्रत का पालन आवश्यक था। अतएव आचार्यों ने शिक्षणालय हेतु उन स्थानों का चयन किया, जो पर्वत की तलहटी या नदियों के तट पर स्थित थे। प्रायः जनकोलाहल से दूर अरण्यों में गुरुओं ने अपने आश्रमों की स्थापना की, जहाँ ब्रह्मत्त्व की प्राप्ति हेतु ज्ञान प्राप्त करने के लिए अनुकूल परिस्थिति स्वतः ही सुलभ हो जाती थो। उपनिषदों में शिक्षा केन्द्रों के रूप में तीन प्रकार की संस्थाओं के दर्शन होते हैं –

(1) आचार्यों के आश्रम (आचार्य–कुल) **(2)** संवाद परिषद् एवं समिति। **(3)** गोष्ठिया।[7]
उपनिषदों में अनेक आचार्यों के आश्रम की चर्चा मिलती है। जिनमें सत्यकाम जाबाल के वंशज जाबालि का आश्रम प्रमुख था।[8] इसके अतिरिक्त वैदिक परम्परा के ऋषियों में वशिष्ठ, वामदेव , विश्वामित्र, शौनक आदि के आश्रम प्रसिद्ध हैं।[9] छान्दोग्योपनिषद्, शतपथ ब्राह्मण एवं सूत्र साहित्य में शौनक ऋषि का उल्लेख है, इनका आश्रम 'नैमिषारण्य' एक महान शिक्षा केन्द्र के रूप में विकसित हुआ था। महाभारत में नैमिषारण्य आश्रम का वर्णन किया गया है। छान्दोग्योपनिषद्1 के अनुसार दालभ्य ऋषि के पुत्र **बक** नामक प्रसिद्ध ऋषि नैमिषारण्य में निवास करते थ, उन्होंने प्राणरूप ऊँकार की उपासना के सामर्थ्य से ऋषियों की कामनापूर्ति के लिए उद्गीथ गान किया था।

वैदिक युग में आयोजित विद्वद्गोष्ठियों में विद्वानों के मध्य शास्त्रार्थ एवं ज्ञानचर्चाएँ हुआ करती थी। ऋग्वेद में वर्णन है कि मेधावीजन वेदार्थों के गुण–दोषों का विवेचन करने के लिए एकत्र होते थे।[10] आचार्यों की परिषदें अथवा समितियाँ शिक्षा सम्बन्धी ऐसी उच्च संस्थाएँ थी, जिसमें विभिन्न विद्वान् मिलकर गूढ़ विषयों का चिन्तन और अपनी शंकाओं के समाधान का अन्वेषण करते थे। वेदों में **'विदथ'** नामक संस्था का उल्लेख मिलता है।[11] प्रो0 अनन्त सदाशिव अलतेकर महोदय विदथ की व्युत्पत्ति **'विद्'** धातु से बताते हुए इसे **'विद्वानों की परिषद्'** कहा है।[12] छान्दोग्योपनिषद् में **'समिति'** का उल्लेख किया गया है। आरुणि का पुत्र श्वेतकेतु ज्ञानार्थ **'पांचालों की**

समिति' में गया था।[13] बृहदारण्यकोपनिषद् के अनेक अध्यायों में जनक के सभापतित्त्व में कुरु और पा×चाल देश के ब्राह्मणों से युक्त विद्वत्सभा का वर्णन किया गया है।[14] उस शास्त्रार्थ सभा में उद्दालक आरुणि, जनक के होता अश्वल, जरत्कारूपुत्र आर्तभाग, ज्येष्ठ आरुणि के सहपाठी लाह्यायनि भुज्यु, चाक्रायण, उशस्त, कौषीतकेय, कहोल, शाकल्य, वचक्नु की पुत्री गार्गी और जनक ने सक्रिय सहभागिता की थी तथा याज्ञवल्क्य ऋषि से महत्त्वपूर्ण दार्शनिक पृच्छाएँ की। विदुषी गार्गी ने अनेक गूढ़ प्रश्नों से याज्ञवल्क्य को आश्चर्यचकित कर दिया था। इस शास्त्रार्थ में अन्ततः याज्ञवल्क्य विजयी घोषित किए गए। विदेहराज जनक ने याज्ञवल्क्य द्वारा दिये गये परब्रह्म के उपदेश से अत्यन्त प्रभावित होकर अपना सारा राज्य उनक चरणों में समर्पित कर दिया था।[15] आचार्य शाण्डिल्य और उनके शिष्य साम्तर्थवाह, उद्दालक आरुणि एवं सौचेय प्राचीनी के मध्य हुए तर्क–वितर्क का वर्णन शतपथ ब्राह्मण में है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार उद्दालक आरुणि ने उदीच्य विद्वानों का शास्त्रार्थ के लिए आह्वान किया था और उन्होंने शौनक ऋषि से पराजित होने पर उनका शिष्यत्व ग्रहण कर लिया था। गोपथ ब्राह्मण के अनुसार मैत्रेय ऋषि माद्गल्य से शास्त्रार्थ में पराजित होकर पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिए मादै ्गल्य के शिष्य बन गए थे।[16]

इस प्रकार वैदिक युग में शिक्षा का मुख्य केन्द्र गुरुकुल ही था, किन्तु ज्ञानवर्धन के लिए विद्वद्गोष्ठियाँ भी होती थी। गुरुकुल में अन्तेवासी को आचार्य लौकिक एवं आध्यात्मिक विषयों का ज्ञान प्रदान करता था जबकि विद्वद्गोष्ठियों में दर्शन के गूढ़ प्रश्नों पर गम्भीर एवं सार्थक चिन्तन करके मान्य मतों को प्रतिष्ठित किया जाता था।[17]

गुरुकुल में ब्रह्मचारियों का जीवन :– उपनयन संस्कार के उपरान्त ब्रह्मचारी गुरुकुल में प्रायः बारह वर्ष तक निवास करते हुए वेदाध्ययन करता था। छान्दोग्योपनिषद् में उल्लेख है कि उपकोसल नाम वाला कमल का पुत्र कामलायन सत्यकाम जाबाल ऋषि के समीप जाकर बारह वर्षों तक अग्नियों की सेवा करता रहा।[18] श्वेतकेतु [19] ने भी बारह वर्ष की अवस्था में आचार्य के पास जाकर चौबीस वर्ष को अवस्था तक अर्थात् बारह वर्षों तक वेदाध्ययन किया।

वेदों का साप्रोपाप्र अध्ययन ही ब्रह्मचर्य जीवन का चरम लक्ष्य था, अतएव कभी–कभी अन्तेवासी 12 वर्ष से अधिक समय तक वेदों के गूढ़ रहस्यों को सुलझाते हुए गुरुकुल में निवास करते थे। इन्द्र (देवता) और विरोचन (असुर) ने ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करते हुए बत्तीस वर्षों तक प्रजापति के निर्देशन में अध्ययन किया था।[20] इनमें से इन्द्र तो आत्मा विषयक सम्पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति हेतु सौ वर्षों तक गुरुकुल में ब्रह्मचर्यपूर्वक निवास करता रहा।[21] भरद्वाज के पचहत्तर वर्षों तक वेदों का अध्ययन करने और जीवन के चतुर्थ भाग में ब्रह्मचर्य के परिपालन के लिए अनुष्ठान करने का उल्लेख मिलता है।[22] प्रश्नोपनिषद् के अनुसार जब सुकेशा, सत्यकाम, सौर्यायणी, आश्वलायन, भार्गव, कबन्धी आदि इन छः ऋषियों ने पिप्पलाद से ब्रह्मविषयक जिज्ञासा की तब महर्षि पिप्पलाद ने कहा कि **'श्रद्धा सहित ब्रह्मचर्यपूर्वक तप करते हुए एक वर्ष तक रहो।'**[23] इस आज्ञापालन के पश्चात् ही महर्षि पिप्पलाद ने उन ऋषियों को उपदेश दिया।

ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना छात्र के लिए अनिवार्य नियम था। ब्रह्मचारी का जीवन सत्य, तप और नियम का जीवन था। वेदों में ब्रह्म शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त है। उन्हीं में से ब्रह्म का एक अर्थ है– तप। इस अर्थ के अनुसार तप का आचरण करने वाला ब्रह्मचारी है। मंत्रद्रष्टा ऋषियों ने ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करने वाले को तेजोमय ब्रह्म (ज्ञान) को धारण करने वाला कहा है, जिसमें समस्त देवता अधिवास करते हैं।[24]
ब्रह्मचारी नियमित रूप से समिधाओं (ईंधन) के लिए वनों में भ्रमण करते थे। उपनिषदों[25] में समिधा लाने के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं। मुण्डकोपनिषद्[26] में कहा गया है कि ब्रह्म ज्ञान की प्राप्ति के लिए कर्मों द्वारा उपलब्ध लोकों को जानकर ब्राह्मण वैराग्य धारण करें तथा समिधायें हाथ में लेकर ब्रह्मनिष्ठ गुरु का आश्रय लें क्योंकि केवल किए हुए कर्मों से तो परमेश्वर की प्राप्ति नहीं हो सकती। वैदिक ऋचाओं में वर्णित समिधाएँ मात्र ईंधन अर्थ में प्रयुक्त नहीं थी अपितु इसका आध्यात्मिक अर्थ भी अभिप्रेत था। इस दृष्टि से पृथ्वी ब्रह्मचारी की प्रथम समिधा थी और आकाश द्वितीय समिधा।[27] आकाश और पृथ्वी के मध्य अग्नि में स्थापित हुई समिधा से ब्रह्मचारी संसार को सन्तुष्ट करता था। ब्रह्मचारी की समिधा श्रम और मेखला तप की सूचक थी जिसके प्रभाव से वह लोक को समुन्नत करता था।[28] वस्तुतः 'समिधा लाने' का प्रतीकात्मक अर्थ था। 'समिधा हाथ में लेकर गुरु के पास जाना'

यह गुरु के द्वारा निर्धारित नियमों के पालन करने के संकल्प तथा गुरु का शिष्यत्त्व ग्रहण करने का ही प्रतीक था।

मेखला धारण करना ब्रह्मचारियों के लिए आवश्यक था। अथर्ववेद में ब्रह्मचारी कहता है– ''मैं ब्रह्मचारी तप आदि नियमों से युक्त हूँ। मैं वध–योग्य शत्रु को ब्रह्म, तप, श्रम से युक्त अपनी मंत्रसिद्ध मेखला से बांधता हूँ।''[29] मेखला से ब्रह्मचारी निवेदन करता है, 'हे मेखला! तुम हमको मति प्रदान करो तथा सुने हुए को स्मरण रखने में समर्थ बुद्धि दो। हमें आत्मबल प्रदान करो। ऋषियों द्वारा बाँधी गयी तू अभिचार के दोष को दूर करके हमें चिरंजीवी बनाओ।'[30] इस प्रकार ''मेखला धारण करना'' ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ होने का प्रतीक था। पशुचारण (पशुओं को चराना) भी ब्रह्मचारियों का एक प्रमुख कर्त्तव्य था। गुरुकुलों में प्रभूत संख्या में गौ एवं अन्य पशुओं का पालन–पोषण किया जाता था। छान्दोग्योपनिषद्[31] की एक कथा के अनुसार आचार्य ने अपने शिष्य सत्यकाम को चार सौ निर्बल गायों के साथ सुदूर स्थान पर भेजा था। सत्यकाम गुरु के आदेशानुसार गायों की सेवा तब तक करता रहा जब तक की उनकी संख्या बढ़कर एक हजार नहीं हो गयी।[32] शतपथ ब्राह्मण[33] एवं बृहदारण्यक उपनिषद्[34] में भी पशुओं की रक्षा करना ब्रह्मचारियों का कर्त्तव्य बताया गया है।

(2) शिक्षण विधि :–

वैदिक शिक्षा मूलतः मौखिक थी। वेद का ज्ञान स्मरणशक्ति पर ही आधृत था। अथर्ववेद में अथर्वा ऋषि ने वाचस्पति देवता से पढ़े हुए ज्ञान को धारण करने के लिए बुद्धि प्रदान करने हेतु प्रार्थना की ह।[35] ऋग्वैदिक शिष्य गुरु की बातें उसी प्रकार दुहराता था, जिस प्रकार मेढक एक–दूसरे के शब्द का अनुकरण करते हैं – **''यदेषामन्यो अन्यस्य वाचं शाक्तस्येव वदति शिक्षमाणः।''**[36]

इससे स्पष्ट है कि वैदिक शिक्षा श्रवण परम्परा पर आधारित थी। अथर्ववेद में शिष्य गुरुमुख से उच्चारित मंत्रों को सुनकर उन्हें स्मरण करते हुए धारण करने की कामना करता है।[37] शिक्षण विधि मौखिक पद्धति पर आधारित थी, इसी कारण मंत्र में आए हुए शब्दों के क्रम–परिवर्तन तथा विस्मरण आदि की सम्भावनाओं को देखते हुए उन्हें सुरक्षित रखने के लिए संहितापाठ, पदपाठ, क्रमपाठ, जटापाठ, घनपाठ तथा रथपाठ जैसे नियम बनाए गए थे। मौखिक पद्धति का तात्पर्य केवल मंत्रों को कण्ठस्थ कर लेना नहीं था अपित मंत्रों के यथार्थ अर्थ को समझना भी आवश्यक था। निरुक्त में कहा गया है, ''अर्थ को जाने बिना वेदाध्ययन करने वाला व्यक्ति वृक्ष के ठूँठ जैसा मूर्ख है और केवल भारवहन करने वाला है जबकि वेदार्थ को जानने वाला समस्त कल्याणों को प्राप्त करता है एवं वेद से प्राप्त ज्ञान के द्वारा पापों का नाश करके स्वर्ग को प्राप्त करता है।'[38] ऋग्वेद में भी वेदार्थ को समझे बिना वेदाध्ययन करने वाले की निन्दा की गयी है। दसवें मण्डल में कहा गया है– ''कोई व्यक्ति वाणी को देखता हुआ भी नहीं देखता है और कोई सुनते हुए भी उसको नहीं सुनता''[39] अर्थात् जो अर्थ का अवगमन किए बिना वैदिक मंत्रों को कण्ठस्थ कर लेता है, उसका स्वयं पढ़ना एवं गुरु–मुख से सुनना सभी व्यर्थ है। वैदिक शिक्षा पद्धति में शुद्ध उच्चारण और यथावत् स्मृति पर जोर दिया गया था तथापि जिज्ञासा, अनुसंधान, विचार और विवेकपूर्वक किए गए विश्लेषण का भी अत्यधिक महत्व था। वस्तुतः इस शिक्षा पद्धति में श्रवण–मनन–निदिध्यासन प्रमुख चरण थे।[40] श्रवण के अन्तर्गत गुरु–उपदेश, गुरु–शिष्य में संवाद तथा परिप्रश्न सम्मिलित था। मनन का तात्पर्य निरन्तर **'चिन्तन'** एवं निदिध्यासन का तात्पर्य सुने गए एवं विचारे गये विषय को धारण करना अर्थात् उसका **'अनन्त ध्यान'** करना था।

उपनिषदों में मुख्य रूप से पराविद्या अर्थात् आत्मज्ञान अथवा ब्रह्मज्ञान का वर्णन है। ब्रह्मज्ञान जैसे दुरूह विषयों की शिक्षा देने के लिए उपनिषद्कालिक आचार्यों ने कुछ महत्त्वपूर्ण **शिक्षण–पद्धतियों** का अविष्कार किया जो आधुनिक शिक्षण विधियों के समान थी। इनमें प्रमुख हैं– परोक्ष विधि, व्युत्पत्ति विधि, सूत्र विधि, आख्यायिका विधि, सादृश्य विधि, संवाद विधि, समन्वय विधि, स्वगत भाषण विधि, प्रश्नोत्तर विधि, तात्कालिक उत्तर विधि, अध्यारोप–अपवाद विधि, कार्य–कारण विधि, प्रयोगात्मक विधि आदि।[41]

वैदिक शिक्षण विधि में लौकिक दृष्टान्तों के प्रस्तुतीकरण द्वारा शिक्षण करने की विधि अधिक प्रसिद्ध थी, जिसे आधुनिक शिक्षाशास्त्र की भाषा में **'परोक्ष प्रविधि'** कहा जाता है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय जैसे अलौकिक विषय को समझाने के लिए घूमते हुए चक्र और प्रवाहित होती हुई पचास भेद वाली नदी जैसे लौकिक दृष्टान्तों का प्रयोग किया गया है।[42] इसी प्रकार छान्दोग्योपनिषद् में शाण्डिल्य विद्या के प्रसंग

में 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत कहा गया है। यहाँ 'तत्' अर्थात् ब्रह्म से संसार की उत्पत्ति (ज), लय (ल) और स्थिति (इति) जैसे अलौकिक विषय को स्पष्ट करने के लिए 'तज्जलान्' इस संकेतात्मक शब्द का प्रयोग किया गया है। ऋषि ने आत्मा के गूढ़ स्वरूप को लौकिक दृष्टान्तों से इस प्रकार उद्घाटित किया है– 'हृदय के भीतर स्थित आत्मा चावल, जौ, सरसों, साँवा के चावल से भी अत्यन्त सूक्ष्म है और पृथ्वी, अन्तरिक्ष, स्वर्ग, सम्पूर्ण लोकों से बड़ा है।'[43] परोक्ष विधि वैदिक आचार्यों को अधिक प्रिय थी[44] क्योंकि इस विधि द्वारा सूक्ष्म से सूक्ष्म विषयों का अध्यापन सरलता से किया जा सकता है।

शब्दों के अर्थ को समझाने के लिए **व्युत्पत्ति विधि** का प्रयोग किया जाता था। इसमें शब्दों की निष्पत्ति बताकर अर्थ का प्रतिपादन किया जाता है। छान्दोग्योपनिषद् में पुरि (शरीर) में शेते (शयन करना) इस अर्थ के आधार पर 'पुरुष' शब्द की निष्पत्ति बतायी गयी है, जिसका अर्थ 'आत्मा' अथवा 'चैतन्य तत्त्व' से है।[45] माण्डूक्योपनिषद् में 'ओम्' शब्द के अर्थ को व्युत्पत्ति विधि के द्वारा समझाया गया है।

यास्क कृत निरुक्त व्युत्पत्ति विधि का सर्वोत्तम उदाहरण है। उपनिषदों में **सूत्र विधि** का प्रयोग भी दिखाई देता है। अत्यन्त अल्प शब्दों के द्वारा कठिन एवं विस्तृत विषय का शिक्षण करना सूत्र विधि कही जाती है। उपनिषदों में 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म',[46] 'तत्त्वमसि'[47] 'अहं ब्रह्मास्मि',[48]'सत्यमेव जयते',[49] 'विद्यायाऽमृतमश्नुते',[50] 'सत्यंवद धर्मंचर',[51] 'मातृदेवो भव'[52] इत्यादि सूत्रवाक्यों के द्वारा दार्शनिकता और नैतिकता जैसे विस्तृत विषय को सूत्र रूप में प्रकट करते हुए शिष्य को शिक्षा प्रदान की गयी है। वर्तमान युग में गणित एवं विज्ञान जैसे विषयों के अध्यापन में इस विधि का प्रयोग किया जाता है।

मनोरंजक एवं प्रभावोत्पादक आख्यान सुनाकर शिष्य को उपदेश देने की विधि **'आख्यायिका विधि'** कही जाती है। वर्तमान भाषाशास्त्र में इसे **'कथा–कहानी विधि'** के नाम से भी जाना जाता है। ब्राह्मण ग्रंथों में इस विधि के दिग्दर्शन होते हैं। ब्राह्मण ग्रंथों में उल्लिखित आख्यानों में हरिश्चन्द्रोपाख्यान या शुनः शेपोपाख्यान[53] तथा जलाप्लावन–आख्यान[54] अत्यन्त विख्यात है। उपनिषदों में वर्णित **'उमा–हेमवती–इन्द्र'**[55] आख्यायिका 'ब्रह्मज्ञान के विद्यार्थियों के लिए विनम्रता आवश्यक है', इसकी शिक्षा देती है। यम–नचिकेता आख्यायिका[56] के द्वारा आत्मज्ञान जैसे गूढ़ विषय को प्रस्तुत किया गया है। यह विधि अध्ययन–अध्यापन की अत्यन्त लोकप्रिय विधि थी।

आचार्य अलौकिक विषयों के प्रतिपादन के लिए प्रायः **'सादृश्य विधि'** का आश्रय लेते थे। मुख्य प्रतिपाद्य विषय को समझाने के लिए उससे समानता रखने वाले वस्तु का उदाहरण प्रस्तुत करना सादृश्य प्रविधि कही जाती है। याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को आत्मज्ञान का उपदेश देते हुए दुन्दुभि, शंख और वीणा इत्यादि का उदाहरण दिया है।[57] कथोपकथन पर आधारित शिक्षण–विधि **संवाद विधि** कही जाती है। ऋग्वेद में बीस संवाद सूक्त प्राप्त होते हैं, उनमें यम–यमी संवाद (10/10), इन्द्र–वरुण संवाद (4/12), देवगण एवं अग्नि–संवाद (10/52), वरुण–अग्नि संवाद (10/51), इन्द्र–इन्द्राणी संवाद (10/86), पुरुरवा–उर्वशी संवाद (10/95), सरमा–पणि संवाद (10/108), सोम–सूर्या संवाद (10/85) एवं विश्वामित्र–नदी संवाद (3/33) प्रमुख हैं। उपनिषदों में आचार्यों ने दुरूह एवं अलौकिक ज्ञान की अभिव्यक्ति संवादों द्वारा की है। बृहदारण्यकोपनिषद् में याज्ञवल्क्य–मैत्रेयी संवाद, कठोपनिषद् में नचिकेता–यम संवाद, मुण्डकोपनिषद् में शौनक–अंगिरा संवाद आदि इस प्रविधि के उदाहरण हैं।

शिष्य की जिज्ञासा की शान्ति के लिए तात्कालिक परिवेश के अनुसार उत्तर देना **तात्कालिकोत्तर प्रविधि** कही जाती ह। छान्दोग्योपनिषद् में प्रजापति ने इन्द्र एवं विराचे न के प्रश्नों का पूर्ण उत्तर न देकर तात्कालिक उत्तर दिया था। शिष्य से यह अपेक्षा की जाती थी कि वह बाद में पूर्ण उत्तर प्राप्त करने का प्रयास करे। इन्द्र ने पूर्ण समाधान प्राप्त किया था किन्तु विरोचन ने नहीं। इसी कारण विरोचन (असुर) का पराभव हुआ। प्रजापति ने तात्कालिक उत्तर से सन्तुष्ट होकर जाते हुए उन दोनों को देखकर कहा था कि 'आत्मा को पूर्ण रूप से बिना जाने जो ये जा रहे हैं वे देवता हो या असुर, ऐसे विचार वालों का पराभव होगा।'[58] वस्तुतः यह शिक्षण की अपूर्ण विधि थी जो तात्कालिक समाधान प्रस्तुत करती थी।

उपनिषदों में **कार्य–कारण विधि** के प्रयोग के प्रमाण प्राप्त होते हैं। कार्य से कारण तक पहुँचने की विधि कार्य–कारण विधि कही जाती है। छान्दोग्य उपनिषद् में 'बिना कारण के कार्य नही हो सकता।'[59] ऐसा कहकर अन्न से जल, जल से तेज, तेज से सत् की उत्पत्ति प्रतिपादित की गयी है।

वैदिक शिक्षा पद्धति में **प्रश्नोत्तर–विधि** का भी दिग्दर्शन होता है, जिसमें शिष्य के द्वारा पूछे गये प्रश्नों का गुरु सरल एवं संक्षिप्त उत्तर देता था। यजुर्वेद में इसके अनेक सुन्दर उदाहरण प्राप्त होते हैं।[60] प्रश्नोत्तर विधि से सम्बद्धित एक उद्धरण द्रष्टव्य है[61]

प्रश्नः– ''**कः** स्विदेकाकी चरति क उ स्विज्जायते पुनः।

किं स्विद्धिमस्य भेषजं किंवावपनं महत्।।'' (अर्थात् हे होता, कौन एकाकी ही परिभ्रमण करता है? कौन पुनः उत्पन्न होता है? शीत का निवर्तक क्या है? क्या महत् आवपन है)?

उत्तर :– ''सूर्य एकाकी चरति चन्द्रमा जायते पुनः।

अग्निर्हिमस्य भेषजं भूमिरावपनं महत्।।'' (अर्थात् हे ब्राह्मन्, सूर्य अकेला ही आकाश में संचरण करता है। चन्द्रमा पुनः उत्पन्न होता है। हिम का निवर्तक अग्नि है और यह भूमि ही महत् आवपन–विविध बीजों को पुनः पुनः बोये जाने वाली है)।

प्रश्नोत्तर विधि का प्रयोग प्रश्नोपनिषद् में द्रष्टव्य है। बृहदारण्यकोपनिषद् में याज्ञवल्क्य–जनक संवाद, गार्गी–याज्ञवल्क्य संवाद प्रश्नोत्तर विधि के अच्छे उदाहरण हैं।

वैदिक शिक्षण–पद्धति में **वाद–विवाद विधि** एक महत्त्वपूर्ण विधि थी जिसे **'शास्त्रार्थ'** कहा गया है। इस विधि में वादी–प्रतिवादी के द्वारा प्रस्तुत किये गये तर्कों के आधार पर निर्णय लिया जाता है। अथर्ववेद में वादी को 'प्राश' एवं प्रतिवादी को 'प्रतिपाश'[62] कहा गया है। यजुर्वेद में वादी–प्रतिवादी एवं निर्णायक क लिए क्रमशः प्रश्निन्–अभिप्रश्निन् और प्रश्नविवाक शब्द का प्रयोग किया गया है। उपनिषदों में इस विधि से सम्बन्धित उदाहरण प्राप्त होते हैं।[63]

योजनाबद्ध ढंग से कार्य करते हुए सीखने की विधि **परियोजना विधि** कही जाती है। ऋग्वेद (10.101) में इस विधि के संकेत मिलते हैं। एक मंत्र में उद्धृत है– 'गोष्ठ बनाओ जिसमें मनुष्य भी जल पी सकते हैं। अनेक मोटे कवच भी ढालो। लोहे के दृढ़ पात्र उपस्थित करो और चमस को ऐसा बनाओ, जिससे जल की बूँद भी न गिरे।'[64] इसमें योजना बनाकर कार्य करने की प्रेरणा दी गयी है।

इस प्रकार वैदिक शिक्षा–पद्धति में आचार्य अनेक शिक्षण विधियों के द्वारा शिक्षण कार्य किया करते थे। उनमें से कई शिक्षण विधियाँ आधुनिक शिक्षा पद्धति में भी प्रासगिक हैं और उनका प्रयोग किया जाता है। आज भी गुरु अपने अनुभव एवं ज्ञान के आधार पर इन विधियों का प्रयोग करके अपने अध्यापन को अधिक प्रभावशाली बना सकता है।

संक्षिप्त रुप में कहा जा सकता है कि वैदिक कालीन f"ाक्षण विधि मूलतः मौखिक एवं प्र"नोत्तर प्रधान थी। इसे प्रत्यक्ष विधि के नाम से भी जाना जाता था। शिक्षाका स्वरूप पूर्णतः व्यक्तिगत हुआ करता था। विद्यार्थी अपने दैनिक जीवन में मन्त्रों का पाठ एवं उसकी व्याख्या करते थे साहित्य; काव्य तथा न्याय के क्षेत्र में निरन्तर वाद–विवाद खण्डन तथा मण्डन विद्यार्थियों द्वारा किया जाता था, जिससे विद्यार्थियों की प्रत्युत्पन्न मतित्व व वक्तृत्व का विकास होता था। राजनीति तथा नैतिकता की शिक्षाकथाओं के माध्यम से दी जाती थी जिसके व्याख्यान का निरूपण गुरू–f"ाष्य संवाद के माध्यम से होता था। यह शिक्षानि:"ाुल्क थी। शिक्षाप्राप्त करके f"ाष्य गुरू को गाय, अन्न या अ"व किसी भी रूप में गुरू दक्षिणा देता था विद्यार्थियों की 25 वर्ष की ब्रहमचर्य की अवधि को उत्तरोत्तर विकास क्रम से सत्र एवं समय में विभाजित किया जाता था। जिस दिन अध्ययन बन्द रहता था उसे अनध्याय शब्द से संबोधित करते थे। अध्ययन की समाप्ति समापन कहलाती थी। अतः शिक्षाकी समाप्ति पर समावर्तन संस्कार होता था।

(3) वैदिक शिक्षा में पाठ्यक्रम :–

शिक्षाएक त्रिमुखी प्रक्रिया है। इसमे एक ओर f"ाक्षक तथा दूसरी ओर विद्यार्थी हैं तथ इन दोनों को जोड़ने वाला घटक पाठ्यक्र है। पाठ्यक्रम ही शैक्षिक व्यवस्था का आधार बनाता है क्योंकि सीखनाव सिखाना पाठ्यक्रम के द्वारा

ही सम्भव है। पाठ्यक्रम के व्यापक अर्थ में वस्तुतः व्यावहारिक जीवन के समस्त कार्यकलापों को शामिल किया जाता है। वैदिक युग में भौतिक उत्कर्ष की अपेक्षा आध्यात्मिक उन्नति को जीवन का उद्देश्य माना गया था। अतएव तात्कालिक शिक्षा का पाठ्यक्रम आध्यात्मिक तथा चारित्रिक विकास को ध्यान में रखकर ही निर्धारित किया गया था। वैदिक शिक्षा पद्धति के पाठ्यक्रम का अवलोकन करने से विदित होता है कि वेदों को पाठ्यक्रम में सर्वप्रमुख स्थान प्राप्त था। तपोवन में ब्रह्मचारियों को सर्वप्रथम वेद का अध्ययन कराया जाता था, तत्पश्चात् अन्य विषय पढ़ाये जाते थे। ब्रह्मचारो प्रतिदिन प्रातःकाल पक्षियों के गुaजन के पूर्व ही वेद मंत्रों का पाठ प्रारम्भ कर देते थे।[65] वेदों से ईश्वरीय ज्ञान की प्राप्ति होती थी। तैत्तिरीयोपनिषद् में ऋषि यह प्रार्थना करता है कि– 'जो प्रणव वेदों में सर्वोत्तम है, विश्व रूप और अमृत से युक्त है, वेदों का मुख्य प्रतिपाद्य है, वह इन्द्र रूप ईश्वर मुझे मेधावान् बनावें।'[66]

ब्रह्मचारी वेदमंत्रों को कण्ठस्थ करके उसे सदैव स्मरण रखते थे, जिससे उनका जीवन श्रेष्ठ एवं सर्वोच्च मूल्यों से युक्त हो सके। सुने हुए उपदेश को भूल न जाने की कामना अनेक मंत्रों में की गयी है।[67] वेद मंत्रों के उच्चारण के साथ–साथ उनके अर्थ का ज्ञान रखना भी वक्ता के लिए आवश्यक था। वेदार्थ को जानने वाला सर्वत्र यश प्राप्त करता था जबकि अर्थ ज्ञान न होने पर मूर्ख समझा जाता था। ऋग्वेद में कहा गया है कि जब अनेक मेधावी जन वेदार्थों के गुण–दोषों का विवेचन करने के लिए एकत्र होते हैं, तब कोई पुरुष वेदार्थ को जानने वाला होकर सर्वत्र विचरण करता है जबकि कोई सर्वज्ञान से शून्य रह जाता है।[68] वैदिक मन्त्रों के अर्थ को समझकर उसकी विभिन्न प्रकार से व्याख्या भी की जाती थी। ऋग्वेद के दसवें मण्डल में वर्णन है कि कुछ उपासक (होता) ऋचाओं द्वारा स्तुति करते हुए यज्ञादि कर्मों में सहायक होते हैं। दूसरे प्रकार के उपासक (उद्गाता) गायत्री छन्द युक्त सोम का गान करते हैं। **'ब्रह्मा'** यज्ञ में विविध प्रकार की व्याख्या करते हैं और अन्य उपासक (अध्वर्युगण) यज्ञ में अनक कर्मों को करने वाले होते हैं।[69] इसी आधार पर ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद के ऋत्विजों को क्रमशः होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा की संज्ञा दी गयी। कालान्तर में भी शिक्षा के पाठ्यक्रम में वेदों को प्रथम स्थान प्राप्त रहा। मेधातिथि, विश्वरूप, अपराक, मनु[70] आदि लेखकों के अनुसार गुरुकुल में ब्रह्मचारियों के लिए वेद का वास्तविक ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक था।

वेदों की व्याख्या के फलस्वरूप वैदिक साहित्य में ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, वेदाग, स्मृति इत्यादि का प्रादुर्भाव हुआ और इनको भी पाठ्यक्रम में सम्मिलित किया गया। ब्राह्मण काल में यज्ञविद्या का अध्ययन–अध्यापन अधिक होता था जबकि उपनिषद् युग में वैदिक संहिताओं, वेदाप्रां, याज्ञिक विद्याओं के साथ ही परा विद्या और ब्रह्म–विद्या का भी शिक्षण किया जाने लगा। उपनिषद् युग में शिक्षा का पाठ्यक्रम अत्यन्त व्यापक हो गया, जिसमें आर्यजनों की सम्पूर्ण बौद्धिक उन्नति समाविष्ट थी। छान्दोग्योपनिषद् के सप्तम अध्याय में वर्णन है कि एक बार नारद जी सनत् कुमार के पास आत्मविद्या का अध्ययन करने के लिए आए। सनत् कुमार ने जब नारद से पूछा कि– 'तुम जो जानते हो उसको बतलाओ।' तब नारद जी ने बताया कि वह (नारद) ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास–पुराण–रूप पaचम वेद, वेदों का वेद (व्याकरण), पित्र्य विद्या (श्राद्धकल्प), राशि (गणित), दैव (उत्पाद विद्या), निधि शास्त्र, वाकोवाक्य (तर्कशास्त्र), एकायन (नीतिशास्त्र), देव विद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या (प्राणिविज्ञान), क्षत्र विद्या (सैन्य विज्ञान), नक्षत्र विद्या (ज्योतिष), सर्प विद्या, देवजन विद्या (शिल्प और ललित कलायें यथा नृत्य, गीत, वाद्य) इन सबको जानते हैं।[71] इससे स्पष्ट होता है कि वैदिक युग में पाठ्य–विषय अत्यन्त विस्तृत था। विद्यार्थी की योग्यता और क्षमता के अनुरूप ही उन्हें ज्ञान दिया जाता था। छान्दोग्योपनिषद् में वर्णित पाठ्यक्रम में वेदों के साथ अन्य विद्याएँ भी सम्मिलित की गयी हैं। वस्तुतः वेद ही प्रमुख पाठ्य विषय था किन्तु ये अन्य विद्याएँ यज्ञ के अप्रां के रूप में थी। अतः इनका भी अध्ययन किया जाता था। मुण्डकोपनिषद् (1.4–5) से भी विस्तृत पाठ्यक्रम की सचना मिलती है, जिसमें पराविद्या और अपराविद्या दोनों को स्थान दिया गया है।

उपनिषद् काल में ब्रह्म विद्या या पराविद्या को अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व दिया गया था। कठोपनिषद् के अनुसार **'यम'** पराविद्या के सर्वोच्च आचार्य थे। उन्होंने नचिकेता की परीक्षा लेकर उसे पराविद्या का उपदेश दिया। पराविद्या का तात्पर्य **'आत्म–ज्ञान'** या **'सर्वोच्च ज्ञान'** से है। आत्मा विषयक विद्या आत्मविद्या कही जाती थी। उपनिषदों में पराविद्या के महत्त्व को प्रकट करते हुए कहा गया है कि परब्रह्म के ज्ञान से बढ़कर कुछ भी नहीं है।[72] शिष्य के रूप में आए हुए ब्राह्मण को ज्ञानी गुरु बह्म विद्या का उपदेश करे, जिससे शिष्य को सत्य स्वरूप अविनाशी ब्रह्म का पूर्ण ज्ञान हो सके।[73]

वस्तुतः वैदिक शिक्षा का पाठ्यक्रम आध्यात्मिक जीवन पर आधारित था। शिक्षा में उन्हीं विद्याओं को सम्मिलित किया गया था, जिससे विद्यार्थी का चरित्र उच्च आदर्शों एवं मूल्यों स अनुप्राणित हो सके और विद्यार्थी जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सार्थक एवं अनुकरणीय मानकों को स्थापित कर सकें।

संक्षेप में माना जा सकता है कि वैदिक काल, पूर्व वैदिक काल अथवा ऋग्वैदिक तथा उत्तर वैदिक (जो यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद, के अतिरिक्त ब्राह्मण, आरण्यक एव ं उपनिषद् आदि की रचना काल था) के भेद से दो भागों में बंटा था भारतीय परम्परा के अनुसार ब्रह्मा द्वारा ऋषियों को मंत्रों का प्रकाश दिया गया। व मंत्र उस ऋषि के पुत्रों एवं शिष्यों के माध्यम से कुल की परम्परा में सुरक्षित रहते थे। इस प्रकार प्रत्येक ऋषि कुल एक लघु विद्यालय के समान था जहाँ रहकर विद्यार्थी को ब्रह्मचर्य का पालन करना पड़ता था। **''आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्ममचारिणमिच्छते''** आचार्य उपनयन संस्कार द्वारा ब्रह्माचारी को अपनी रक्षा में लेता था। ''आचार्यो उपनयमानो ब्रह्मचारिणं वृणुतेगर्भन्तः'' गुरूकुलों में ऋषियों द्वारा पाठ को कण्ठस्थ कराया जाता था। प्रवचन तथा उच्चारण पर बल दिया जाता था तथा तप, आत्मदर्शन की युक्ति, प्रवचन तथा उच्चारण पर बल दिया जाता था।'' मानसिक चिन्तन तथा ध्यान से ज्ञान प्राप्त कराया जाता था। उत्तरवैदिक काल में सम्भवतः लेखन काल में भी उन्नति होने लगी थी। शिक्षण पद्धति में पाठों का उच्चारण, भाष्य व्याख्या तथा वाद–विवाद सम्मिलित थे।

आध्यात्म से तात्पर्य ईश्वर को जानने से है। आध्यात्मिक शिक्षामें प्राचीनता तथा गूढ़ता है तथा वह पारलौकिक जगत में विश्वास करता है, लौकिक जगत उसके लिये मिथ्या हो जाता है। आध्यात्म द्वारा वह अनेक जिज्ञासाओं को शान्त करता है। आध्यात्म ज्ञान से ब्रह्म ज्ञान होता है। वेदान्त ने बताया है – 'सत्यमज्ञानमन्तम् ब्रह्म'। वेदान्त ने यह भी बताया है 'विज्ञानमानन्दब्रह्म'। वैदिक काल में ज्ञान के लिए प्राप्त किया जाता था। सबको चिन्तन तथा मनन के लिये गुरूकुलों में प्रोत्साहन मिलता था। उस समय वेदों का श्रवण, मनन तथा निदि ध्यासन किया जाता था अतः इन्हीं तीनों विधियों द्वारा आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त किया जा सकता था। अथर्ववेद में बताया गया है कि इसमे आध्यात्मवाद तथा सहानुभूतिपूर्ण मंत्रों का वातावरण है। जिसका सांस्कृतिक स्तर ऋग्वेद से निम्न कोटि का है तथा जो आर्यों के अप्रतिष्ठित धर्म से उद्भूत है तथा जिसमें अनेक अनार्य तत्वों का समावेश है। वैदिक काल में आध्यात्म से अनुप्राणित शिक्षाथी। जिसे अपरा विद्या कहते थे। इसे जानकर व्यक्ति के मोक्ष का मार्ग प्रशस्त हो जाता था जो कि उसके जीवन का अन्तिम तथा परम लक्ष्य था। ब्रह्म आत्मा में ऐक्य की अनुभूति की अवस्था को मोक्ष कहा गया है। मोक्ष के लिए ज्ञान मार्ग का प्रतिपादन हुआ। यह ज्ञान मार्ग ब्रह्मन् तथा आत्मन की बीच अद्वैत भाव का अनुभव करना था।

संदर्भ

1. अल्तेकर, ए0एस0, प्राचीन भारत मं ि"ाक्षा, विद्याभवन, बंबई, पेज 4
2. छांदोग्य उपनिषद् 4.9.3, निर्णय सागर प्रेस, बंबई, 1957,
3. तैत्तरीय उपनिषद, 3.11.21, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1983
4. छांदोग्य उपनिषद् 2.23.1, निर्णय सागर प्रेस, बंबई, 1957
5. याज्ञवल्क्य स्मृति 1.49, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1972
6. छांदोग्य उपनिषद 6.1.1 निर्णय सागर प्रेस, बंबई, 1957
7. कुमार, डॉ. कृष्ण, प्राचीन भारत की शिक्षा पद्धति, द्वितीय संस्करण, रावत पब्लिके"ांस, जयपुर, 1998, पेज 262
8. छान्दोग्य उपनिषद् 4.10 निर्णय सागर प्रेस, बंबई, 1957
9. माण्डूक्योपनिषद् 2.1.5 चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1972
10. छान्दोग्य उपनिषद 1.2.13 निर्णय सागर प्रेस, बंबई, 1957
11. ऋग्वेद 10.71.8 चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1972
12. छान्दोग्य उपनिषद 5.3.1 निर्णय सागर प्रेस, बंबई, 1957
13. बृहदारण्यकोपनिषद 3.1.1 निर्णय सागर प्रेस, बंबई, 1952
14. छान्दोग्य उपनिषद,4.10.1,निर्णय सागर प्रेस, बंबई, 1957
15. तैत्तिरीय ब्राह्मण 3.10.11 चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 2004
16. प्रश्नोपनिषद् 1.2 चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 2004
17. अथर्ववेद 11.5.24 निर्णय सागर प्रेस, बंबई, 1957

18. कौषीतकी उपनिषद् 4.19, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 2009
19. मुण्डकोपनिषद् 1.2.12 चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 2008
20. अथर्ववेद 11.5.4 निर्णय सागर प्रेस, बंबई, 1957
21. छान्दोग्य उपनिषद 4.4.5 निर्णय सागर प्रेस, बंबई, 1957
22. शतपथ ब्राह्मण 3.6.2.15, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 2007
23. बृहदारण्यकोपनिषद् 3.1.1, निर्णय सागर प्रेस, बंबई, 1952
24. अथर्ववेद 1.1.2 निर्णय सागर प्रेस, बंबई, 1957
25. ऋग्वेद 7.103.5 चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1972
26. अथर्ववेद 7.61.2 श्रुतानि शृण्वन्तो वयमायुष्मन्तः सुमेधसः।।
27. सिंह, राजेन्द्र पाल एवं लता चन्दोला, शिक्षक एवं ज्ञानवान समाज, शिप्रा प्रकाशन, दिल्ली, 2004 पज 52
28. यजु0 17.18–20, 23.1 से 12, 23.45 से 48, 23.53 से 62, 23.47।